हर्नांदो डि सोटो और वित्तीय समावेशन का असली चेहरा

आदित्य निगम

पिछले कुछ सालों से हिंदुस्तान समेत दुनिया के कई मुल्कों में नीति-निर्माता हलक़ों में एक नयी चिंता दिखाई दी है, जिसे वित्तीय समावेशन यानी फ़ाइनेंशियल इंक्लूज़न के नाम से जाना जाता है। इसी के साथ-साथ एक और चिंता उभर कर आयी है, लेकिन उस पर उतनी बात नहीं होती। वह है ग़रीबों के लिए सम्पत्ति के अधिकार का सवाल। दोनों ही सरोकार देखने में बेहद क्रांतिकरी मालूम पड़ते हैं। आख़िर कौन नहीं चाहेगा ग़रीबों को अर्थव्यवस्था की मूलधारा में शामिल करना और बैंकिंग के ज़रिये उन्हें औपचारिक दायरे में खींच कर ले आना? कौन नहीं चाहेगा कि ग़रीबों के पास भी सम्पत्ति हो? दिलचस्प बात यह है कि ये तमाम तजवीज़ें किसी रैडिकल या वामपंथी हलक़े से नहीं बल्कि वहाँ से आ रही हैं जिसे हम नव-उदारतावाद के नाम से जानने लगे हैं। यह सवाल इसलिए भी पड़ताल करने लायक़ बन जाता है कि नव-उदारतावाद का हमारा तजुर्बा अभी तक यही रहा है कि मौलिक रूप से यह फ़लसफ़ा बेलगाम निजीकरण का हामी होने के साथ-साथ ग़रीब-विरोधी व कॉरपोरेट-परस्त ही रहा है। उसके बेलगाम निजीकरण के फलस्वरूप हमने पिछले दौर में बड़े पैमाने पर सामूहिक बेदख़ली और प्रकृति का निर्मम दोहन देखा है। नव-उदारतावाद के दौर में निजीकरण ने आदिवासियों को जंगलों से और किसानों को उनकी ज़मीन से बेदख़ल होने से नहीं रोका। उनकी सम्पत्ति के अधिकारों के प्रति कोई चिंता या सहानुभूति पिछले तीन दशकों में हमें देखने को नहीं मिलती। फिर ये नये सरोकार कहाँ से और क्योंकर आये? इन्हें कैसे समझा जाए?

हर्नांदो डि सोटो

1991 में वित्त मंत्री की हैसियत से मनमोहन सिंह ने भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के लिए बड़े पैमाने पर कई ऐसे क़दम उठाए थे जिन्होंने अर्थव्यवस्था का पूरा किरदार ही बदल कर रख दिया था। इसमें कोई शक नहीं कि उनमें से कई क़दम उस वक़्त के तकाज़े के हिसाब से ज़रूरी भी थे, क्योंकि पुरानी व्यवस्था एक क़िस्म के ठहराव का शिकार हो गयी थी। 'लाइसेंस-परमिट राज' और नौकरशाही के भ्रष्टाचार के चलते उसकी साँस भी ठीक से नहीं चल रही थी। मगर उन्हीं पहलक़दमियों का नतीजा समाज में ग़ैरबराबरी के बेतहाशा बढ़ने और ग़रीबों की सामूहिक बेदख़ली के रूप में सामने आया था।

2004 में मनमोहन सिंह संयुक्त प्रगतिशील मोर्चे (संप्रग) की सरकार के प्रधानमंत्री बने और उनकी रहनुमाई में नव-उदारतावादी राह पर चलना बरक़रार रहा। बेशक संप्रग-1 के दौरान वामपंथी पार्टियों और सामाजिक आंदोलनों की सरकार और राष्ट्रीय सलाहकार समिति में मौजूदगी के कारण उस दौर में महात्मा गाँधी रोज़गार योजना जैसी कुछ योजनाएँ और सूचना के अधिकार व वन अधिकार क़ानून आदि पारित करने जैसे क़दम भी उठाए गये। 2009 में बनी संप्रग-2 सरकार इन तमाम बंधनों से आज़ाद थी। 2010 में मनमोहन सिंह ने अपने मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्यों को दो किताबें पढ़ने के लिए दीं। इन दोनों किताबों के लेखक पेरू के मशहूर अर्थशास्त्री हर्नांदो डि सोटो थे। डि सोटो साहब को आज भी हिंदुस्तान में बेशक बहुत कम लोग जानते हों, मगर दुनिया में उनकी शोहरत उस ज़माने में छलाँगें लगा कर बढ़ रही थी— ख़ास तौर पर आर्थिक नीति-निर्माताओं के एक ख़ास हलक़े में। अपने देश पेरू में उन्हें नब्बे के दशक के दौरान ही राष्ट्रपति अल्बर्ट फुजीमोरी के सलाहकार की हैसियत से काम करते हुए कुछ हद तक कामयाबी मिली ही थी। मगर उसके बाद उनकी शोहरत लगातार बढ़ती गयी और 2004 में अमेरिका की *टाइम* पत्रिका ने उन्हें दुनिया के सौ सबसे प्रभावशाली लोगों में दर्ज किया। 2010 जुलाई में उन्हें भारत सरकार ने भी अपना सलाहकार नियुक्त कर लिया।

डि सोटो से भारत सरकार अपने यहाँ मौजूद व्यापक शहरी ग़रीबी से निबटने के लिए सुझाव चाहती थी। अब सवाल यह उठता है कि ये महोदय कौन हैं? क्या इनकी पिछली कामयाबियों के आधार पर हमारी सरकार ने इतनी उत्सुकता से इस भीषण समस्या से उबारने के लिए सलाहकार नियुक्त किया? मुख़्तसर में क़िस्सा यह है कि पूरी तरह नव-उदारतावादी होने और शिकागो स्कूल के अनुयायी होने के बावजूद, दुनिया जब पूँजीवाद की विश्व-विजय का जश्न मना रही थी तब डि सोटो ने अपने अध्ययनों के आधार पर एक किताब लिखी। इसका उनवान था *मिस्ट्री ऑफ़ कैपिटल : वाय कैपिटलिज़म ट्रायम्फ्स इन द वेस्ट ऐंड फ़ेल्स एवरीवेयर एल्स*। (दरअसल उनकी कई किताबें हैं मगर यहाँ फ़िलहाल इसी का ज़िक्र ज़रूरी है)। इस पुस्तक में उन्होंने, जैसा कि उनवान से ही साफ़ ज़ाहिर है, दावा किया कि दरअसल पूँजीवाद दुनिया में हर जगह पश्चिम के अलावा नाकाम ही रहा है। बहुत लोगों को उस वक़्त यह दावा चौंका देने वाला लगा था।

ऐसा दावा उन्होंने किसी वामपंथ के असर या दबाव में आकर नहीं किया, बल्कि अपने अध्ययनों के आधार पर उनका मानना यह था कि तीसरी दुनिया में ग़रीब देशों की ग़रीबी और बदहाली की वजह पूँजीवाद के विकास का अवरुद्ध होना है। इसका अर्थ उनकी भाषा में यह है कि इन तमाम देशों की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जो पूँजीवाद के दायरे के बाहर ही रह गया है— उनके

अर्थों में औपचारिक अर्थतंत्र के बाहर रह गया है। जिसे हम आम तौर पर अनौपचारिक अर्थतंत्र कहते हैं, उसका वैधानिक-औपचारिक ढाँचे के बाहर रह जाना पूँजीवाद के लिए नुक़सानदेह है। क्यों नुक़सानदेह है— इसका जवाब दिलचस्प है।

डि सोटो का कहना है कि उनके और उनके द्वारा स्थापित इंस्टिट्यूट ऑफ़ लिबर्टी एंड डेमॉक्रैसी के शोध से पता चलता है कि जिसे हम अनौपचारिक अर्थव्यवस्था कहते हैं और जिसके बारे में हम मानते हैं कि धन का अभाव और ग़रीबी जिसके मुख्य पहलू हैं, वहाँ दरअसल लोगों में ग़ज़ब की उद्यमी ऊर्जा देखने को मिलती है। उनका कहना है कि वहाँ इतना धन पैदा होता है कि हम उसका अंदाज़ा भी नहीं लगा सकते। उनके शोध के मुताबिक़ मिस्र, पेरू, इण्डोनेशिया आदि देशों में ग़रीब बस्तियों और झुग्गियों में पैदा होने वाला धन उन देशों के पूँजी बाज़ार या स्टॉक एक्सचेंजों में उपलब्ध धन से कहीं ज़्यादा है। मगर अफ़सोस है कि यह धन पूँजी के बाज़ारों के खेल में शामिल नहीं किया जा सकता। इसलिए इसे वे 'मृत पूँजी' या डेड कैपिटल कहते हैं। एक बार ज़रा उन्हीं के शब्दों में सुनें वे क्या कह रहे हैं :

> ग़रीब से ग़रीब देश में भी ग़रीब लोग बचत करते हैं। ग़रीबों की इस बचत का मूल्य ज़बर्दस्त है— 1945 के बाद से दुनिया भर में ग्रहित विदेशी मदद का चालीस गुणा। मसलन मिस्र में ग़रीबों की संचित बचत उस रक़म का पचास गुणा है जो उसे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से अब तक मिली है, जिसमें सुएज़ कैनाल और असवान डैम शामिल हैं। लातीनी अमेरिका के सबसे ग़रीब देश हाइती में ग़रीबों के कुल जमा धन 1804 में फ्रांस से आज़ादी मिलने के बाद से अब तक मिले कुल विदेशी निवेश का डेढ़ सौ गुणा है ...
>
> मगर वे इस धन को ग़लत ढंग से रखते हैं : ऐसी ज़मीन पर बने घर जिनके मालिकाना का ही पता नहीं है, ऐसे उद्योग-धंधे जिनकी जवाबदेही और देनदारी के बारे में कोई स्पष्टता नहीं है, ऐसी जगहों पर उद्योगों का लगा होना जहाँ फ़ाइनेंशियर और निवेशक उन्हें देख ही नहीं सकते हैं। चूँकि दर्ज न होने के कारण इन सम्पत्तियों के अधिकारों का कुछ पता नहीं होता इसलिए इन्हें पूँजी में तब्दील नहीं किया जा सकता और उस छोटे से दायरे के बाहर जहाँ लोग एक-दूसरे को जानते और आपस में विश्वास करते हैं, उनकी तिजारत नहीं हो सकती, उनके एवज़ में क़र्ज़ नहीं लिया जा सकता है और निवेश के लिए शेयर की तरह इनका इस्तेमाल भी नहीं हो सकता है। (देखें, *मिस्ट्री ऑफ़ कैपिटल,* पहला अध्याय)

लिहाज़ा एक तरफ़ पूँजी के अभाव में इन देशों की तरक़्क़ी रुकी रहती है, तो दूसरी तरफ़ ग़रीबों की जेब में इतना धन है जो पूँजी नहीं बन पाता। अगर वह औपचरिक तंत्र के भीतर ले आया जा सके तो इसका निवेश भी हो सकता है और यह स्टॉक मार्केट में एक दोहरी ज़िंदगी भी जी सकता है।

ऐसा क्यों नहीं हो पाता— इसके बारे में भी उनका तर्क दिलचस्प है। जैसा कि ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, उनका कहना है कि किसी भी सम्पत्ति का पूँजी के रूप में इस्तेमाल, मसलन स्टॉक मार्केट में इस्तेमाल, तब तक मुमकिन नहीं है जब तक वह क़ानूनी न हो, अर्थात् जब तक सम्पत्ति का मालिकाना स्पष्ट न हो। ग़ौर कीजिए कि डि सोटो ग़रीब लोगों के हाथ में सम्पत्ति देने की बात नहीं करते, बल्कि सम्पत्ति के अधिकार और उसे दर्ज करने की बात भर करते हैं। इसके मायने सिर्फ़ यह है कि

'मगर वे इस धन को ग़लत ढंग से रखते हैं : ऐसी ज़मीन पर बने घर जिनके मालिकाना का ही पता नहीं है, ऐसे उद्योग-धंधे जिनकी जवाबदेही और देनदारी के बारे में कोई स्पष्टता नहीं है, ऐसी जगहों पर उद्योगों का लगा होना जहाँ फ़ाइनेंशियर और निवेशक उन्हें देख ही नहीं सकते हैं। चूँकि दर्ज न होने के कारण इन सम्पत्तियों के अधिकारों का कुछ पता नहीं होता इसलिए इन्हें पूँजी में तब्दील नहीं किया जा सकता और उस छोटे से दायरे के बाहर जहाँ लोग एक-दूसरे को जानते और आपस में विश्वास करते हैं, उनकी तिजारत नहीं हो सकती, उनके एवज में क़र्ज़ नहीं लिया जा सकता है और निवेश के लिए शेयर की तरह इनका इस्तेमाल भी नहीं हो सकता है।'

बड़ी मुश्किल से ग़रीब लोग अपने रोज़ाना के ख़र्चे काट कर पैसा बचाते हैं, इसलिए नहीं कि कोई पूँजीपति या स्टॉक मार्केट का खिलाड़ी आ कर उसे अपना मुनाफ़ा कमाने के लिए बाज़ार में खेले। डि सोटो की बात से ऐसा लगता है जैसे जिसकी बचत का पैसा है वही उसका फ़ायदा उठाएगा, मगर आप अपने ही बचत के पैसे को देखें तो क्या लगता है? बैंक में जमा आपका पैसा क्या आपके क़ाबू में है? नोटबंदी के वक़्त क्या आपको यह अहसास नहीं हुआ कि दरअसल आपकी अपनी कमाई के पैसे पर आपका कोई बस नहीं है?

इनका काग़ज़ पर दर्ज न होना, पट्टे की शक्ल में या मालिकाना दस्तावेज़ की शक्ल में लाना ही उनका उद्देश्य है। इस संदर्भ में वे एक दिलचस्प क़िस्सा भी सुनाते हैं। वे बताते हैं कि जब इण्डोनेशिया की सरकार ने उन्हें सलाहकार बनाया और सम्पत्ति के इंदिराज के लिए जब वे गाँव-गाँव घूम रहे थे तो उन्हें हर थोड़ी दूर पर एक अलग कुत्ता भौंकता दिखाई / सुनाई दिया। बाद में सरकार के नुमाइंदों से मुलाक़ात के दौरान उन्होंने यह बात बताते हुए कहा कि 'दरअसल आप के यहाँ एक कुत्ता भी जानता है कि उसके मालिक की ज़मीन कहाँ शुरू होती है और कहाँ ख़त्म, मगर आपकी सरकार यह नहीं जानती।' वहाँ मौजूद एक मंत्री ने कहा, आहा, 'जुकुम आदत' अर्थात् जनता का या प्रथागत क़ानून।

बहरहाल, अपने शोधों से और इन तजरुबों से डि सोटो ने जो नतीजा निकाला उसके निहितार्थ समझने लायक़ हैं। इस छोटे से लेख में डि सोटो के पूरे फ़लसफ़े और उनकी तमाम तजवीज़ों पर बहुत बारीकी से नज़र डालना तो मुमकिन नहीं है, मगर जो मूल बात है वह है सम्पत्ति के इंदिराज के ज़रिये उसे नज़र में लाना, उसे हिसाब-किताब के दायरे में लाना ही वह पहली शर्त है जिसके ज़रिये वह पूँजी की शक्ल ले सकती है।

यहाँ एक बात साफ़-साफ़ समझ लेना ज़रूरी है कि सामूहिक सम्पत्ति के निजी बुर्ज़्वा सम्पत्ति में तब्दील होने की प्रक्रिया यहाँ जितनी मासूम-सी जान पड़ती है उतनी कभी होती नहीं है। दुनिया भर में यह प्रक्रिया एक बेहद हिंसक प्रक्रिया रही है। यह कभी भी, कहीं भी, सिर्फ़ दर्ज करने का सवाल नहीं रहा।

इसे हम अपने ख़ुद के आसपास के तजरुबों से भी समझ सकते हैं, क्योंकि सम्पत्ति से ग़रीब लोगों के ज़्यादातर रिश्ते इस्तेमाल के रिश्ते होते हैं, मिल्कियत के नहीं। इसलिए एक साथ कई लोग एक ही ज़मीन का इस्तेमाल करते हैं। यह गाँव देहात की शामिलाती ज़मीन के संदर्भ में भी उतना ही सही है जितना कि शहरी ज़मीन के संदर्भ में। अगर आप अपने मोहल्ले के ही बाज़ार को देखें तो पाएँगे कि सुबह अख़बार बाँटने वालों से लेकर चाय-नाश्ता बेचने वाले तक और फिर बाज़ार खुलने के बाद रेहड़ी पटरी वालों द्वारा इस्तेमाल तक न जाने कितने ही लोग एक ही ज़मीन के हिस्से का इस्तेमाल करते हैं. अब इसे व्यक्तिगत सम्पत्ति में तब्दील करने का मतलब होगा किसी एक को इसका पट्टा दे कर बाक़ियों को वहाँ से बेदख़ल करना। डि सोटो के ही नज़रिये से निकलने वाला एक और मसला ग़रीबों की बचत के पैसे से जुड़ा है। बड़ी मुश्किल से ग़रीब लोग अपने रोज़ाना के ख़र्चे काट कर पैसा बचाते हैं, इसलिए नहीं कि कोई पूँजीपति या स्टॉक मार्केट का खिलाड़ी आ कर उसे अपना मुनाफ़ा कमाने के लिए बाज़ार में खेले। डि सोटो की बात से ऐसा लगता है जैसे जिसकी बचत का पैसा है वही उसका फ़ायदा उठाएगा, मगर आप अपने ही बचत के पैसे को देखें तो क्या लगता है? बैंक में जमा आपका पैसा क्या आपके क़ाबू में है? नोटबंदी के वक़्त क्या आपको यह अहसास नहीं हुआ कि दरअसल आपकी अपनी कमाई के पैसे पर आपका कोई बस नहीं है? अगर दुनिया भर के वित्तीय संकट की कहानी से आप वाक़िफ़ हैं तो आपको समझने में दिक़्क़त नहीं होगी कि किस तरह लाखों करोड़ों लोगों की गाढ़ी कमाई का पैसा रातोंरात ग़ायब हो सकता है। जिस वित्तीय समावेशन के ज़िक्र से हमने यह लेख शुरू किया था उसके पीछे की कहानी यही है : शामिल करने के नाम पर आपकी कमाई के पैसे को कैसे हथियाया जाए।